जैन साधना-पद्धति अर्थात् श्रावक की ११ प्रतिमाएं

ब्र० विदयुल्लता शाह

अविरत सम्यग्दृष्टि श्रावक (गृहस्थ) को आत्मा का साक्षात् निर्विकल्प अनुभव तो कणिका मात्र, रात की बिजली-की चमक-जैसा, हो गया। लेकिन लीन होने का पुरुषार्थ मन्द है, अनुभव में स्थिर नहीं है, उससे क्षण-क्षण विचलित हो रहा है—अव्रती है—ऐसी दशा में साधक जीव की संसार—देह—भोगों के प्रति सहज ही आसक्ति कम होने लगती है—उनके प्रति उदासीनता और आत्मरमण के प्रति उल्लास—ऐसा संघर्ष साधना-पथ में अवश्य होता है।

अशुभ भावों से बचने के लिए सहज ही शुभभावरूप व्रतादिकों में प्रवृत्ति होती है—शुभ-मंगलप्रद साधनापथ का ही नाम **'प्रतिमा'** शास्त्रों में मिलता है। अन्तरंग भावों के अनुसार बाह्य आचरण सामान्यतः हो ही जाता है। कहा है—"संयम अंश जग्यो जहां भोग अरुचि परिणाम, उदय प्रतिज्ञा को भयो, प्रतिमा ताको नाम।" साधक की अंतरंग व बाह्य दशा जिस-जिस प्रतिमा में जितनी बढ़ती जाती है, उसी को आचार्यों ने ११ दर्जों में (प्रतिमाओं में) समझाया है। अंतरंग शुद्धि तो ज्ञान-धारा है, और उसके साथ रहने वाले भाव (शुभाशुभ) कर्म-धारा है। स्व-स्वरूप की स्थिरता की वृद्धि का पुरुषार्थ यहाँ होता है, साथ ही वीतरागता की वृद्धि भी होती है।

रागांशानुकूल बाह्य क्रियाएं जो होती है उन्हें व्यवहार चारित्र कहा जाता है।

ग्यारह प्रतिमाओं का परिचय—

१. दर्शन-प्रतिमा—दर्शन याने आत्म-दर्शन, आत्म-साक्षात्कार, संवित्ति, प्रतीति, अनुभवन। अपने वीतराग स्वभाव का अनुभव, इसे ही जैन शासन में प्रमाण माना है। हरएक द्रव्य को केवल अपना, स्वद्रव्य का ही, अनुभवन हो सकता है। मैं मेरी ही आत्मा का अनुभवन कर सकूंगी--पराई आत्मा का नहीं। स्कन्ध में भी एक जड़ परमाणु अपना ही अनुभव करेगा, अत्यन्त नजदीक के स्वतन्त्र पर-परमाणु का नहीं। आकाश व काल का नहीं। प्रत्येक स्वतन्त्र अस्तित्व वाला पदार्थ केवल खुद का ही अनुभव कर सकता है, यह अकाट्य नियम है।

इसलिए जब अत्यन्त सौभाग्य की घड़ी आती है, जब अनन्त संसार का किनारा निकट आता है, तब अपने स्वरूप का, स्वभाव का, शुद्ध आत्मस्वभाव का जो वीतरागभाव है, उसका अनुभव आता है। उस समय अनिर्वचनीय जैसी विलक्षण शान्ति और विलक्षण सुख का अनुभव होता है। ऐसा अपूर्व अनुभवन इस जीव ने पहले कभी किया नहीं होता। उस अद्भुत अनुभव का वह स्वाद भुलाने पर भी भूल नहीं पाता। उस तरह का स्वाद नित्य बना रहे, यही तमन्ना जागती रहती है। स्वरस के आनन्द से, सन्तोष से, मेरा अपना द्रव्य केवल आनन्द और शान्ति अनुभव कराने वाला है, वह परिपूर्ण है, उस अनुभव में न जड़ का रस है, न जड़ की गन्ध है, न जड़ का रूप है, न जड़ का वर्ण है, न किसी भी इच्छा की जलन है! इस आत्मानुभव में किसी भी पर-जड़ चीज का अनुभवन नहीं है—यहां तक कि इस शरीर का भी नहीं!

अब उसे यही वीतराग दशा हमेशा बनी रहे; बस! यही धुन दिन-रात 24 घंटे सवार रहती है। ऐसा जगत का सच्चा रहस्य वस्तुव्यवस्था का रहस्य जिसे खुल गया हो, उसे ही आत्मदर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता है।

इस आत्म-दर्शन की शक्ति ही अद्भुत है। जब से वीतरागता का अनुभव होता है तब से उस जीव के अत्यन्त भद्र परिणाम होते है। निगोद से लेकर सिद्ध तक सभी जीवों का स्वभाव वीतरागी है। कोई जीव छोटा-बड़ा नहीं। अपने वीतराग खजाने से हरएक भरपूर है। जिन्होंने उस खजाने को पूर्ण रूप से उपलब्ध किया है, वे ही अरिहंत और सिद्ध हैं। आत्मानुभूति से प्राप्त मैं ज्ञानानन्द स्वभावी हूँ—इस आत्मानुभूति से,उस वीतराग दशा की स्थिरता से ही,वह गड़ा खजाना मिल सकता है, प्राप्त हो सकता है,अन्य मार्ग से नहीं। अपने प्रभु विभु भगवान स्वभाव पर अचल, अकंप, अडिग, निष्कंप श्रद्धा होने को ही आस्तिक्य गुण कहते हैं।

अनादि काल से इस अंतस्तत्त्व के न मालूम होने से यह जीव अपने शरीर पर अत्यन्त मोहित था और शरीर की होने वाली पीड़ा से दुःखी होता था। निजतत्त्व को न समझने वाले प्राणी भी अपने शरीर को होने वाली पीड़ा से दुःखी होते हैं। इसलिए मेरी तरफ से उन्हें

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ भी पीड़ा न हो, यही भाव जागृत होते हैं। दुःखी प्राणि-मात्र को देखकर अन्दर अनुकम्पा—दयाभाव उत्पन्न हो जाता है।

आज तक इस जीव ने अज्ञान की वजह से जो राग-द्वेष किये, वे ही कर्मबन्ध के असली कारण हैं। उस द्रव्य कर्म से शरीर मिलता है और स्वतंत्र आत्मा इस शरीर में बद्ध होता है, और अपनी अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त सुख की स्वाधीनता से वंचित होता है। बद्ध को वह आजादी कहां, जो स्वतंत्र को होती है; वह शक्ति कहां, जो स्वतंत्र व्यक्ति को होती है। अपनी इस गुलामी को मिटाने का एक मार्ग है—कि भाव कर्मों से छुटकारा पाना। इसलिए उसके परिणाम इतने भद्र होते हैं कि दया, दान, सहकार, परोपकार, सदाचार ही वर्तता है। इन भावों से भी बन्ध होता है और भव-मुक्ति नहीं होती—यह जानकर ऐसे शुभभाव भी न हों, इस समय में पूर्ण वीतराग बने तो अच्छा, यही एक तीव्र तमन्ना होती है। लेकिन वीतरागता में चौबीस घंटे नहीं रहा जाता, तब अशुभ से शुभ तो लाख गुना ठीक मानकर शुभ भाव करता है। जब शुभ भी गुलामी हो तो अशुभ तो खुद अशुभ है। उससे तो संसार-दशा में भी तीव्र दुःख ही मिलता है—यह जानकर संसार से भयभीत होता है, उसे संवेग कहते हैं। इस संसार में परद्रव्य का एक कण भी अपना नहीं होता। परद्रव्य की अपने पूर्ण आत्मद्रव्य को जरूरत भी नहीं, ऐसी स्वयंपूर्णता की पक्की श्रद्धा हो चुकी होती है। इसलिए खाना-पीना, शरीर का व्यापार, मन का, वचन का व्यापार इससे भी छुटकारा लेने को चाहने वाला—केवल आत्मस्थिरता बनी रहे, इस विचार से सभी पर-द्रव्यों से, स्त्री, पुत्र से भी मुख मोड़ लिया जाये, ऐसा तीव्र इच्छुक होता है। इसे ही निर्वेद या वैराग्य कहा जाता है। जहां सच्चा ज्ञान है वहां अविनाभाव से वैराग्य भावना रहती ही है, यही विशुद्धि सहज ही अंदरूनी होती है। यहाँ कृत्रिमता की गंध भी नहीं, यह आत्मोन्नति की सच्ची सीढ़ी है। आत्मा की उन्नति इन अत्यन्त भद्र, कोमल, सात्विक परिणामों में है। यह असली इन्सानियत है। इन्सान इन्सानियत से ही इन्सान कहलाने का पात्र है, अन्यथा वह पशु से भी गिरा हैं। क्योंकि संज्ञी पशु को भी आत्मदर्शन होता है और उसके भी इतने भद्र, विशुद्ध, सात्विक, उदात्त परिणाम होते हैं।

यह नैसर्गिक मनोदशा का दर्शन है। चीन में ब्रेन वॉशिंग का नया तरीका ढूंढ़ा गया। एक आदमी मुश्किल से खड़ा रह सके (बैठ न सके) ऐसे एक केबिन में अत्यन्त ठण्डे पानी का भरा घड़ा आदमी के ऊपर लटकाया जाता है। उस घड़े से एक-एक बूंद जिसका 'ब्रेन वॉशिंग' करना है उसके मस्तिष्क पर निरन्तर गिरता रहे, इसका पूरा इन्तजाम किया जाता है। चौबीस घण्टे में नंगा आदमी, सम्पूर्ण, नीरव वातावरण। केवल टपटप गिरती बूंद की आवाज के अलावा और कोई आवाज नहीं। उस नीरव शान्ति में वह बिन्दु की आवाज वज्र प्रहार जैसी तीव्र मालूम होने लगती है—आदमी का पूरा ढांचा कांप जाता है। बस ! केवल चौबीस घण्टे में वह दूसरा ही आदमी बन जाता है। पूर्व की सब मान्यताएं छोड़ बैठता है। बस अब उसे जिन विचारों का बनाना है उसके (कर्कश) कर्णकटु रेकॉर्ड लगाये जाते हैं। इतना होने पर वह पूरा बदला हुआ आदमी तैयार होता है।

उक्त स्थिति वैसे ही ऑटोमैटिक ब्रेन-वॉशिंग है। यह उच्च स्तर पर और सत्य के किनारे के निकट पहुंचाने वाली अत्यन्त कल्याण-कारी ब्रेन-वॉशिंग है। आत्मदर्शन-प्राप्त व्यक्ति भी इन आस्तिक्य, प्रशम, अनुकम्पा, संवेग और वैराग्य की भावना से ओतप्रोत हो जाता है। उस ब्रेन-वॉशिंग में पानी की बूंद जो काम करती है, वही काम ब्रेन-वॉशिंग में आत्मदर्शन, करता है। सत्य की राह मिला हुआ वैराग्य-सम्पन्न मन वज्र की चोट का काम करता है और यह आत्मदर्शी आदमी केवल वीतरागता का इच्छुक होता है और इस गुलामी रूप संसार से ऊब जाता है, उसे अब सत् का चश्मा लगा है। इस दुनिया में जो रूपी द्रव्य का चित्र-विचित्र विविधता का खेल है, उसमें जो मूल परमाणु है वही उसे दिखता है। अब बाहर के रूपी द्रव्य का अनूठा सौंदर्य उसे मोहित नहीं कर सकता। हीरा हो या पत्थर, सोना हो या कंकड़, उसमें अब कुछ फर्क नहीं पड़ता। देव, मनुष्य, तिर्यंच, नारक अवस्था में जो द्रव्य रूप अविकारी जीव है वही नजर में आने लगता है। उनकी क्षण-भंगुर पर्यायें गौण हो जाती हैं। उसका कुछ मूल्य ही नहीं रहता बस। सभी जीवों में प्रभुत्व का ही दर्शन होने लगता है। सब क्षुद्र संकुचित विचार नष्ट होते हैं, केवल वीतरागता सवार होती है। यह अत्यन्त उन्नत मनोदशा का स्वरूप है। दुनिया की अब कोई-सी भी ताकत उसे अपनी वीतरागता की रुचि से छीन नहीं सकती। केवल एक शुद्ध दशा का मूल्य रह जाता है।

उस आत्मदर्शी को अपनी शुद्ध दशा की खबर हुई है। किंचित वीतरागता में इतने सुख की ताकत, तो जो पूर्ण रूप से इस शुद्ध दशा में रहने के पात्र हुए हैं, जिन्होंने अपना सच्चा रूप प्रकट करने में सिद्धि हासिल की है, बस उनका ही बहुमान रहता है। अब दुनिया की ऋद्धि, सिद्धि, सम्पदा, वैभव कुछ मूल्य नहीं पाती। इसलिए दुनिया को जो बाहरी चमक लुभाती है, वह चमक-दमक अब उसे नहीं लुभाती। देवगति की चमक-दमक से भी अब दृष्टि चकाचौंध नहीं होती। उन सराग परिग्रहधारी देव-देवताओं का कुछ मूल्य नहीं रहता।

अब उनका अनुकरण करने को जी नहीं चाहता। अब उनकी अनुकम्पा करने को जी चाहता है क्योंकि अनाकुल निराकुल सम्पूर्ण सुख के दर्शन होने की हरएक जीव की पात्रता होने पर भी सच्चे सुख के बारे में ये 'जीव' अनभिज्ञ रह गए हैं, जो अनभिज्ञ होते हैं वे ही देवगति के वैभव को इष्ट समझते हैं, जिन देवगति के देवों को अपने परिपूर्ण आनन्दघन, विज्ञानघन स्वरूप की पहचान हुई है वे भी देवगति को तुच्छ ही गिनते हैं और खुद वे ही, केवल पूर्ण दशा जिन्होंने प्राप्त की है ऐसे वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ देव के ही शरण में जाते हैं। आत्मदर्शी जीव किसी भी सरागी परिग्रहधारी देवताओं के सामने अपना सिर नहीं झुकाता। दुनिया की कोई-सी भी ताकत अब उसे

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

वीतरागता से मुख मुड़ा नहीं सकती।

इस दशा में श्रद्धान तो पूर्णता का हो गया है। खुद की पूर्ण होने की तमन्ना 'जाग' उठी है। लेकिन जो शरीर अपना नहीं, उसके प्रति राग घटाकर व्रत नियमों का अभ्यास नहीं हो पा रहा है। यह दशा उस शराबी-जैसी है जो शराब के दुष्परिणामों को तो जान चुका है, शराब छोड़ने का इच्छुक भी है, लेकिन कुछ भी क्रियात्मक प्रगति नहीं कर पा रहा है।

कुछ प्रगति नहीं हो रही है, इसलिए अपने दिल को कोसता रहता है, उस अनादि ममत्वपूर्ण आदतों पर विजय पाने को ही चाह रहा है। दिल से अपने गलतियों को दूर करने की इच्छा हो तो वे गलतियां निश्चित ही दूर हो जाती हैं।

इसलिए सम्यग्दर्शन की यह लाजवाब आत्मोन्नति की पार्श्वभूमि है। यह सम्यग्दर्शन आत्मा से परमात्मा बनने की प्रक्रिया में फौलादी, बुनियादी नींव है। बुनियादी नींव से ही ऊपर प्रासाद का स्थैर्य रहता है। कमजोर नींव पर बना प्रासाद मिट्टी में मिल जाता है। इस दशा को भी चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं।

स्वरूप की लगन का यह अद्भुत सामर्थ्य है कि इस लगन की तीव्रता में अत्यन्त कठिन मुनिव्रत भी सहज पलता है। इस लगन की मंदता में ११ प्रतिमा अनायास, बिना कष्ट से सहज आनन्द से पल जाती हैं। जब व्रत की सहजता हो तभी वे आत्मोन्नति के साधक बन सकते हैं। व्रत में कष्ट-पीड़ा का अनुभव सही अर्थों में निरर्थक हो जाता है। केवल क्रियाकांड ठहरता है। आत्मोन्नति से वे व्रत कोसों दूर रह जाते हैं, जिनका मूल्य मात्र देह-दंड के अलावा और कुछ नहीं रह जाता। इसलिए दर्शन-प्रतिमा मोक्षार्थी के जीवन में अनन्यसाधारण महत्त्व का स्थान वैसा ही पाती है, जितना चेतना का शरीरधारी में। अन्यथा मात्र कलेवर ! निरा मुर्दापन !

२. **व्रत प्रतिमा**—प्रतिमा शब्द भी अर्थपूर्ण है। प्रतिमा यानि प्रतिकृति। शुद्ध आत्मा की प्रतिकृति जहां हम करते हैं उसे हम जिनप्रतिमा कहते हैं।

जो संसारी आत्मा शुद्ध आत्मा होने जा रहा है, वह अपने शुद्ध आत्मा की प्रतिकृति रूप से ही मानो स्वीकार किया गया है। प्रतिमा शब्द ही साधक को अपूर्व उत्साह, मनोबल प्रदान करने वाला है।

पहली दर्शन प्रतिमा में साधक की शुद्धात्म दशा का श्रद्धान तो पूर्ण हुआ था। अनादि संस्कार से जो इस शरीर पर प्यार था, उसे तो गलत समझने तक प्रगति हुई थी, लेकिन उसकी तरफ उपेक्षात्मक व्यवहार की शुरुआत नहीं हुई थी। लेकिन अब उस उपेक्षात्मक व्यवहार का प्रारंभ हुआ है। यहां आत्म-साक्षात्कारी पुरुष गृहस्थ के जो १२ व्रत हैं उनको धारण करता है। किसी भी छोटे-मोटे संयम के साथ पांचवां गुणस्थान शुरू हो जाता है।

५ अणुव्रत	३ गुणव्रत	४ शिक्षाव्रत
अहिंसाणुव्रत	देशव्रत	सामायिक
सत्याणुव्रत	दिग्व्रत	प्रोषधोपवास
अस्तेयाणुव्रत	अनर्थदंड व्रत	अतिथिसंविभाग
ब्रह्मचर्याणुव्रत		भोगोपभोगपरिमाण
परिग्रह-परिमाणाणुव्रत	**कुल १२ व्रत**	

दूसरी प्रतिमा में ५ अणुव्रत की ही प्रतिमा होती है। लेकिन ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत—इन सातों को शीलव्रत कहा जाता है। ये शीलव्रत अभ्यासरूप से पाले जाते हैं। ये सात शीलव्रत ही आगे की प्रतिमाएं बनती हैं। पहले ही बताया जा चुका है कि वीतरागता का मूल्य आंकने वाली, आत्मस्थिरता को ही सच्ची अहिंसा माना गया है। उपयोग की यत्र-तत्र भ्रमण से, राग-द्वेष के निर्माण होने से, वीतराग स्वरूप आत्मस्वभाव की दूरी बढ़ती जाती है।

जो इस हिंसा से अपने को बचाना चाहता है, शुभ भाव को भी जब हिंसा समझकर उसे नगण्य करता जाता है, तब पर-जीवों की घातस्वरूप हिंसा का तो सर्वथा निषेध सहज ही हो जाता है।

उसकी तो इच्छा महाव्रत रूप संयम पालने की है, एकेन्द्रियों की हिंसा से भी बचने की है, लेकिन अभी तीन चौकड़ी रूप प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव की योग्यता प्राप्त हुई नहीं है, उसकी खुद की भी उतनी तीव्र विशुद्धता प्रकट हुई नहीं है, इसलिए महाव्रत तो नहीं हुआ है, तो भी पूर्ण व्रत की ही तमन्ना है। जो उनकी पूर्णता नहीं हो रही है, उसे अपनी असमर्थता, दुर्बलता जानकर, पछतावा करते हुए एकेन्द्रियों की भी हिंसा न हो, यही यत्नाचार जारी रखता है।

गृहस्थ होने से उद्यमी, आरंभी, विरोधी हिंसा तो नहीं टाल सकता, लेकिन संकल्पी हिंसा तो वह प्रतिज्ञापूर्वक नहीं ही करता।

गृहस्थी होने से पूर्ण रूप से अल्पव्रत नहीं पाल सकता, लेकिन शक्य कोटि के स्तर पर जितना बने, उतना उच्च स्तर पर 'सत्यादि अणुव्रत' होने पर भी महाव्रत जैसा पालता है। यह अचरज की बात नहीं, यह सम्यग्दर्शन का अद्भुत सामर्थ्य है। यह दिल की सफाई की

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ताकत है। इस तरह अपनी पूरी ताकत से अस्तेय, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमाण व्रत पालता है । प्रतिज्ञा तो अणुव्रत की है, लेकिन लगन तो महाव्रत की रहती है ।

भले ही स्वस्त्री से पूरा नाता, संबंध तोड़ नहीं पाया, तो भी श्रद्धान की अपेक्षा से पूरा नाता टूट गया है । स्वस्त्री से संबंध होता भी है, लेकिन अब उसे रखना नहीं, उसे भी छोड़ना ही है—यह भाव रहता है ।

परिग्रह-परिमाण की भी यही बात ! आवश्यकता से अधिक परिग्रह अब रखा ही नहीं जा रहा है।

३. **सामायिक प्रतिमा**—आत्मदर्शी की बढ़ती हुई विशुद्धि अब उसे प्रतिज्ञारूप सामायिक में बद्ध कर देती है। दूसरी प्रतिमा में भी सामायिक करता था, लेकिन यहां उसका निरतिचार पालन स्वीकार है । त्रिकाल सामायिक की जाहिर प्रतिज्ञा अब समाज की रूढ़ियों से बचाती है। अब त्रिकाल सामायिक के लिए, स्वकल्याण हेतु समय देने के लिए, कुटुम्बियों से, समाज से मुक्ति मिलती है । एटिकेट्स, मैनर्स, कोई आया-गया, उनका विचार करने के झंझट से मुक्ति हो जाती है।

साधक तो समझता ही है, सामायिक ही आत्मस्थिरता के लिए सरलतम मार्ग है। जीवन में कुछ करने जैसा है तो वह सामायिक है ! आत्म-शान्ति का उपाय है वह सामायिक ही ! जीवन की जान, प्राण, शान है वह सामायिक ही ! लेकिन अपनी ही असमर्थता के कारण २४ घंटे सामायिक में नहीं ठहरा जाता। तब पछतावा करते हुए खाना-पीना गृहस्थी का कर्त्तव्य भी करता है।

४. **प्रोषधोपवास**—अनादि से चला आया शरीर का मोह एक समय में हरएक का नहीं छूटता, वैसा भाग्यशाली एकाध ही होता है। अब निर्ममत्व को मूर्त स्वरूप देने के लिए प्रोषधोपवास और अंतराय टालकर भोजन करने का अभ्यास करता है। यह जीवन-भर का अभ्यास अंतिम सल्लेखना में भी साथ देता है। केवल शरीर को कृश करना, यह उद्देश्य नहीं, यहां प्रथम से ही चित्त की शांति को प्राधान्य देता है। आहार न मिलने पर भी परिणाम शांत रह सके—इसका यह अभ्यास है ।

आत्म-अनुभव में न खाने का अनुभव था, न उस खाने की इच्छा है। केवल अपने द्रव्य मात्र का अनुभव होता है। वहां जितना और जिसका अनुभव होता है बस वही अपनी चीज है —ऐसा अनुभव हुआ है ।

अनादि काल से ही विपरीत मान्यता से, मोह से ही, इन क्षुधा-तृषा की, इच्छा की, उत्पत्ति हुईहै । अब उस बुरी आदत को प्रयत्न से हटाता है। और वे प्रयत्न ही प्रोषधोपवास रूप से जीवन में आते हैं। सप्तमी और नवमी का एकाशन । अष्टमी का उपवास, अनशन। उसी तरह तेरस और पूर्णिमा या अमावस्या का एकाशन । और चतुर्दशी का उपवास—इसे प्रोषधोपवास कहते है । अपनी ध्येय प्राप्ति की धुन पर सवार हुआ आदमी अपना मार्ग सहज ही साफ करते जाता है।

५. **सचित्त त्याग**—अभी खाने की जरूरत लगती है, यह न शर्म की बात है न गौरव की । अपना स्वभाव स्वयं पूर्ण होने पर भी अभी तक जीवन में आनन्द आने के लिए आहार की सहायता लेनी पड़ती है । यह पारतंत्र्य कब मिटे—उसी दिन की राह है ।

अभी खाया जाता है, लेकिन अब भूख मिटाने के लिए खाया जाता है, अब असमर्थता जानकर खाया जाता है। अब खाने के लिए जीवन नहीं, जीवन के लिए खाना 'सूत्र' बन जाता है । उस खाने में अब कुछ रस नहीं, स्वाद नहीं ! है एक परतंत्रता की याद ! सूचना स्मरण !

इसलिए जिसमें अत्यन्त अल्प हिंसा हो, वैसा भोजन करने लगता है । वनस्पति में 'प्रत्येक शरीर' वनस्पति और 'साधारण शरीर' वनस्पति के प्रकार हैं। पत्ता, सब्जी पर असंख्य सूक्ष्म निगोदिया जीव वास करते हैं···कितने तो नेत्र से भी दिखते हैं।

केवल मेरी वजह से इन बेचारे सूक्ष्म जीवों की हत्या न हो, इस विशुद्ध भावना से जीवन भर के लिए सभी पत्ता-सब्जियों का प्रतिज्ञा रूप त्याग करता है। यहीं सचित्त त्याग पांचवीं प्रतिमा है। इसके पहले ही दो प्रतिभाओं में आठ मूलगुण रूप और कंदमूल के अभक्षण रूप प्रतिज्ञा ले चुका है। और भी अचार, मुरब्बा, पापड़ जैसी चीजें सिर्फ उसी दिन की खाता था। यहां सात शीलों में जो अनर्थदंड व्रत है, वह प्रतिमा रूप हो गया है । यह सब सम्यग्दर्शन की अपूर्व ताकत का चमत्कार—करामात है। यह उन्नत मनोदशा का प्रात्यक्षिक रूप है।

आगे-आगे की प्रतिमा बढ़ाने वाला प्रथम की सभी प्रतिमाओं को निरतिचार रूप से पालता हुआ उत्तर की प्रतिमा में प्रतिज्ञापूर्वक बद्ध होता है। और जो शीलव्रत रह चुके हैं, वे भी अभ्यास रूप से पाले जाते हैं। यहां दूसरी प्रतिमा में से ही भद्र प्रकृति का द्योतक रूप ठहरा हुआ 'अतिथि संविभाग' व्रत शुरू होता है। यह कोई प्रतिमा नहीं है। क्योंकि इसमें सत्पात्र व्यक्तियों के बारे में जो चार प्रकार के दान वैयावृत्य, विनय का व्यापार होता है, उसका समावेश होता है। यह मात्र सदाचार है। सम्यग्दर्शन जैसी अनोखी विशुद्धि वाले का तो वह सहज स्वभाव ही है। जो कीड़े-मकोड़े के बारे में सहृदय होता है, वह सम्मान-पात्र आदरणीय व्यक्ति को चार प्रकार का दान दें तो इसमें कुछ अचरज की बात नहीं।

६. **रात्रि-भोजन-त्याग प्रतिमा**—अब वह आत्मदर्शी संसार से इतना विरक्त हो गया है कि पहले उसे संसार की एटीकेटस्, मैनर्सका खयाल आता था, घर में अगर रात को मेहमान आयें तो उसे कैसे खाली पेट रखा जाय ? उसे कम-से-कम, 'खाना खाओ' ऐसा व्यवहार तो करना पड़ेगा—यह आशंका सताया करती थी। लेकिन अब परिणाम इतने विरक्त हो गये हैं,कि इन फालतू एटीकेट्स की, मैनर्स

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की, रीति-रिवाजों की कुछ कद्र नहीं रह जाती। 'रात में खाओ' यह एटीकेट्स, मैनर्स नहीं, तो रात में खाने का नाम भी नहीं लेना। यह शिष्टता का व्यवहार है। यहीं असली एटीकेट्स/मैनर्स है। अब वह आचरण से इसकी शिक्षा देने लगता है।

इसका नतीजा यह होने लगता है, रात में घर आने वाला मेहमान दिन में ही खाना खाने उसके घर में पहुँचता है। क्योंकि उसे अब मालूम हुआ है कि उनके घर सूर्यास्त के पहले खाना नहीं खाऊंगा तो रात खाली पेट जायेगी। यह कृति ही 'रात्रि भोजन-त्याग' का अधिक प्रसार-प्रचार करेगी।

पहली प्रतिमा से ही वह खुद रात्रि-भोजन नहीं करता था। अब मन-वचन-काय, कृत-कारित तथा अनुमोदना से भी रात्रि भोजन-त्याग का अनुमोदन करता है।

हरी पत्ता सब्जी न खाने से जीवन-यापन नहीं होता ऐसा नहीं, उसी तरह रात में भोजन न करने से जीवन-यापन होता नहीं, ऐसा भी नहीं। किन्तु अनावश्यक जो प्रयोग-उपयोग से छुटकारा हो जाता है, यही अनर्थदंड व्रत का पालन है।

७. **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—आत्मस्थिरता ही एकमात्र अहिंसा है। उसके अलावा पर-चिंतन को आत्मस्वभाव के विरुद्ध मानने वाला आत्मदर्शी अपनी भूल जानकर भी स्वस्त्री से नाता तोड़ नहीं पाया था। लेकिन अब वह सफलता भी प्राप्त कर चुका है।

अपने अब्रह्मरूप कृति पर विजयी हो चुका है। हजार चिंतनों का उतना मूल्य नहीं, जितना इस एक कृति का!

आमरण उस नीच कृति से वह अपने को बचा रहा है। अचेतन स्त्री, मनुष्यिणी, तिर्यंच-देवी—इनका मन, वचन और काय से तथा कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग कर चुका है।

यही सबसे अधिक हिंसा की कृति थी। यही आत्मा का सबसे अधिक अधःपतन था। जिसकी अत्यंत अहिंसक सार्वकल्याण की सात्त्विक कृति हो गई, वह कभी भी दूसरे जीव को अब विवाह की सलाह नहीं दे सकता। जो खुद नरक से बचना चाहता है, वह अपने प्रिय जनों को नरक का द्वार कभी नहीं दिखा सकता।

यह आत्म-सूर्य के फूटती हुई प्रकाशित किरणों का दर्शन है। यह कथन करने की बात नहीं, अनुभव की बात है। जहां कथन है वहां अनुभव नहीं; जहां अनुभव है वहां कथन नहीं। शब्दों से सत्य का दर्शन नहीं हो सकता। जहां शब्द छूट जाते हैं वहां सत्य की उपलब्धि होती है। जहां विचार, आशा, आकांक्षा, राग-द्वेष छूट जाते हैं, वहां जो रह जाता है वही मात्र सत्य है। वहीं परम शुद्ध आत्मा है। इसलिए सत्य कहा नहीं जा सकता, मात्र अनुभवन किया जा सकता है।

इस सत्य की जिसे उपलब्धि हो गई है वह, अन्य सभी इस सत्य को प्राप्त करें—इसी सद्‌भावना का इच्छुक रह जाता है। इसलिए अपने पुत्र-पौत्र भी इस अनाकुल-निराकुल सुख को प्राप्त करें, वे भी जगत् के झूठे कामकाजों से बचें, सदाचार-सम्पन्न, पवित्र चारित्र्य-सम्पन्न हों, इसलिए विवाह में मात्र हिंसा के अलावा और सुख नहीं—ऐसा कहता भी है, लेकिन जवानी का नशा सुनता नहीं। पुत्र-पौत्र मानते नहीं तब अपनी जिम्मेदारी जानकर सिर्फ उनका विवाह करता है। अगर घर में वह जिम्मेदारी संभालने वाले हों तो उससे भी छुट्टी ली जाती है।

८. **आरम्भत्यागप्रतिमा**—लेना-देना करना, व्यापार उद्यम चलाना, घर का कारोबार देखना, इन विभाव-क्रियाओं से इतना विरक्त होता है कि संरंभ, समारंभ, आरंभ-रूप रसोई, उदर-निर्वाह का साधन, दुकानदारी, खेती आदि भी छोड़ देता है। खंडणि, पेशणी, चुल्ली, उदकुम्भी, प्रमार्जनी-ये गृहकृत्य तो हिंसाकांड से प्रतीत होने लगते हैं। इन कृत्यों में संग्रामभूमि का दर्शन होने लगता है। संग्राम-भूमि का जो विदारक, बीभत्स, हिंसाजनक स्वरूप है, उसकी तुलना में पंचसूना से उदर-निर्वाह की क्रिया किसी भी अपेक्षा से कम विदारक, शौर्यपूर्ण, निर्घृण नहीं है। वहां पंचेन्द्रियों का हिंसाकांड है।

'जीवो मंगलम्' भावना का, 'जीयो और जीनो दो' भावना का, सहृदयता का, इससे बढ़कर और क्या सबूत हो सकता है?

वह आरंभ-त्याग वाला खाने-पीने रूप परावलंबन से और उसके लिए किये जाने वाली क्रिया से इतना ऊब जाता है, इतनी निर्ममत्व भावना इस प्रकार फूटकर बाहर निकलती है कि जो भी हो! अब यही हिंसात्मक क्रिया आमरण न होगी, फिर इसका मूल्य कितना भी क्यों न चुकाना पड़े! यह विचार कर प्रतिज्ञाबद्ध होता है। साधक को विभाव क्रियाओं की कितनी थकान आयी है, इसका अनुमान किया जा सकता है। अब शुद्ध परमात्मा की प्रतिमा साकार होने जा रही होती है।

९. **परिग्रह-त्याग प्रतिमा**—इतने निर्मल परिणामों का नतीजा स्पष्ट है। अब जो पूर्व का अनिच्छा से रखा हुआ, जो परिग्रह था उसको भी अधिक उच्च स्तर पर घटाया जाता है। सिवाय ओढ़ने के वस्त्र, सभी महल, मकान, दुकान के हक छोड़ देता है। पुत्र-स्त्री एक धर्मशाला में ठहरे प्रवासी से अधिक मूल्य नहीं पाते। यहाँ 'भोगोपभोग परिमाण' यह शिक्षाव्रत प्रतिमा-रूप बन गया है। यहां नवीं कक्षा उत्तीर्ण होने का स्टैंडर्ड प्राप्त हो चुका है।

१०. **अनुमोदना प्रतिमा**—'जल में भिन्न कमल' जैसी यह स्थिति है, अतः घर में रहते हुए भी घर के कारोबार में इतनी उदासीनता है कि मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदना से भी अनुमति नहीं देता। ये सब बेकार की बातें हैं! जिसे अपना चितामुक्त रूप मिला वह क्यों चितायुक्त हो जाय! आत्मस्थिरता की बढ़ती श्रद्धा का ही इस विरक्ति के दर्शन में योगदान है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. **उद्दिष्ट आहार-त्याग प्रतिमा**—अब न मकान व दुकान से वास्ता रहा न घर-गृहस्थी से। अब न रही खाने की चिंता; न रही रहने की चिंता। अब घर में रुकने की रुकावट खत्म हो चुकी है। जिसे घर से विरक्ति, गृह-क्रियाओं से विरक्ति हुई है फिर अब उनमें उसे क्यों रुकना ? अब घर में नहीं रहा जाता। अपना-पराया भेद खत्म हो चुका है। अब उस घर की भी जरूरत नहीं है। अब संकुचित भावनाएं गिर चुकी हैं। विशाल, व्यापक, उदात्त, विराट् दृष्टि हुई है। अब वह आत्मस्वरूप में बसता है, देह में नहीं। देह तो कहीं भी और कैसे भी रहे। ममत्व का कारण नहीं रहा तो घर का कारण भी नहीं रहा।

विनय, भक्ति, श्रद्धा से आहार का योग मिले तो ठीक। नहीं तो निर्ममत्व बढ़ाने का मिला हुआ एक अपूर्व अवसर।

यहां इतनी विशेषता है कि गृहस्थ अपने लिए खाना बनाता है उसमें जो संरंभ, समारंभ, आरंभ क्रिया रूप हिंसा होती है वह टल नहीं सकती थी, वह खुद के लिए वह कार्य किये बिना नहीं रह सकता था।

अनादि काल से इस आत्मा को विभाव-परिणमन से,विपरीत मान्यता से,क्षुधा-तृषा की बुरी आदत लगी है। आदत कभी भी जल्दी नहीं छूटती। उसे तो मिटाना ही है। लेकिन चित्त की स्थिरता के साथ मिटाना मूलतः मिटाना है। एक साथ संपूर्ण आहार छोड़ने से शरीर तो उसे एडजेस्ट नहीं हुआ है। परिणामों में पीड़ा का अनुभव जरूर होने लगता है, तब परिणाम बिगड़ने से धर्म न रहकर अधर्म के होने का डर उपस्थित होता है। अच्छे परिणामों से पुण्यबंध और आर्त-रौद्र परिणामों से पाप-बंध होगा। इसलिए जैन शासन में परिणामों की शुद्धि पर विशेष बल दिया गया है।

जब आदर से, सम्मान से भोजन मिले तो लेना, लेकिन अपने लिए बनाये गये भोजन को नहीं लेना। यह उद्दिष्ट आहार प्रतिमा का उद्देश्य है।

अपने लिए दूसरे ने भी भोजन क्यों न बनाया हो, वहां भी हिंसा वह होती है जिसे टालने का वह इच्छुक था। इसलिए तो उसने आठवीं आरंभ-त्याग प्रतिमा में खुद के लिए अपने हाथों से भोजन बनाना तक छोड़ दिया था। उसमें मुख्यतः जीव-रक्षा का प्रधान हेतु था वह हेतु, अपने लिए पराया भी भोजन क्यों न बनाये, उसमें नहीं पल सकता। हेतु की पूर्ति नहीं होती, इसलिए मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदन—इन सबका नव कोटी की विशुद्धि से आहार लेने की अत्यंत संगत विधि बताई गई है।

ग्यारह प्रतिमाधारी नियम से गृह में नहीं रह सकता। अब इसे 'क्षुल्लक' कहते हैं। क्षुल्लक एक लंगोट और एक खंड वस्त्र ही धारण करता है। शास्त्र, पीछी, कमंडलु; और दो अत्यन्त अल्प वस्त्र—इतना परिग्रह रह जाता है। स्वावलंबी आत्मा के फूटती किरणों के साथ, एकेक वस्त्र और भी गिरता है। जब ओढ़ा हुआ खंड वस्त्र गिरता है उसे 'ऐलक' कहते हैं। जब वह लंगोटी गिर जाती है तब उसे निर्ग्रन्थ 'दिगम्बर कहा जाता है।

स्वावलंबन, आत्मनिर्भर, स्वयंपूर्ण जीवन का पूर्ण रूप से साकार हुआ यह दर्शन है। यह अंदर के चैतन्य की चरम सीमा की विशुद्धि का अत्यंत प्रकट दर्शन है। यह उस सीमा का सदाचार है, जगत के सब सदाचार जिसकी तुलना में निस्तेज, निष्प्रभ, निर्माल्य मूल्य हो जाते हैं, गिनती में भी नहीं आते।

कोटि-कोटि जिह्वा के उपदेश से उस सदाचार की मूर्ति का दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है। वहां शरीर का रोम-रोम मानवता का संगीत मूर्त रूप से गा रहा है। इस एक संदेश में जो ताकत है वह कोरी बकवास में कहां ? इसलिए नाम-निक्षेप रूप प्रतिमा ही क्यों, मुनिव्रत भी आत्म-विकास में साधन नहीं है। इसलिए व्रत जहां हो वहां आत्म-विकास अवश्य हो—यह नहीं बनता। लेकिन जहां सर्वोच्च पूर्णतारूप परम वीतरागता की शुद्धि की तीव्रतम उत्सुकता होती है, वहां प्रतिमा, मुनिचर्या मिलती है। वहां तो पूर्ण वीतराग होना ही अभिप्रेत है। लेकिन वीतरागता में स्थिर नहीं रहा जा सकता,यह देखकर यह पर्यायी मार्ग स्वीकारा है जो अपनी चर्यात्मक मन-वचन-काय की चेष्टा को अपने ध्येय में पूरक बनाया जाना है।

पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक दर्शनादि आरंभिक प्रतिमा से उत्तरोत्तर प्रतिमा को आत्मलीनता में स्थिरता के हेतु अंगीकार करता है। नीचे की दशा को आगे की व्रत प्रतिमाओं में छोड़ता नहीं।

१ से ६ प्रतिमा तक **जघन्यव्रती** श्रावक

७ से ९ तक **मध्यम व्रती** श्रावक, देशव्रती अगारी

१० से ११ तक **उत्कृष्ट व्रती** श्रावक

गृहस्थ के सदाचार की ये सीढ़ियां मुनिव्रत अंगीकार करने का लक्ष्य रखने वाला ही पार कर सकता है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org